श्रमण संस्कृतिः एक परिशीलन

• मुनि डॉ. राजेन्द्र कुमार 'रत्नेश'

जीवन, मानव के लिये सर्वोत्तम अतु सत्य है। जीवन की शाश्वत परम्परा हमें सहज अनाकांक्षित उपलब्ध हुई। जीवन के दो पक्ष हैं-उपलब्धि एवं उपयोग। जीवन की अज्ञात अदृष्ट भावों की सृष्टि से सहज उपलब्धि हुई है अतः उसमें उसकी गरिमामय अभिव्यक्ति नहीं है। जीवन की जो उपलब्धि हमें हुई है हम उसका सम्यक्रुपेण उपयोग करें, इसी में जीवन की सार्थकता के दर्शन होते हैं। यही जीवन का सौन्दर्य रूप है।

जीवन को उपयोगी बनाने हेतु समाज, सभ्यता, संस्कृति एवं धर्म, दर्शन की परिकल्पना एवं उसका विकास मानव ने किया। अगर इन व्यवस्थाओं की सत्ता नहीं होती तो मानव अपने जीवन के बाह्य एवं अंतर के पक्ष को समझ नहीं सकता, संवार नहीं सकता और उसका बाह्य एवं अंतर संघर्षरत होकर उसके व्यक्तित्व को विभाजित कर देता। जहाँ धर्म, दर्शन और संस्कृति का संबंध व्यक्तित्व की अस्तित्वमयी सत्ता से है, वहीं समाज एवं सभ्यता का संबंध उसके व्यक्तित्व से है।

संस्कृति एवं सभ्यता - संक्षेप में जीवन का जितना विस्तार है उतनी ही संस्कृति की बहुमुखी सामग्री होता है। धर्म, दर्शन, साहित्य कला, समाज और उसकी परिवर्तनशील अनेक संस्थाएं, इन सबकी संज्ञा संस्कृति है।[१] तथा मनुष्य की जीवन यात्रा को सरल सन्मार्गी बनाने वाली सभी आयोजन एवं आविष्कार, सभ्य उत्पादन के प्रसाधन तथा सामाजिक राजनैतिक संस्थाएं सभ्यता के प्रतिरूप हैं।[२] सभ्यता एवं संस्कृति के अन्तर संबंध के प्रश्न पर अनुचिंतन करते हैं तो पता चलता है कि सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों की सहज लक्ष्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति।[३]

धर्म - भारतीय वाङ्मय में धर्म कई अर्थों में व्यवहृत् शब्द है। अथर्ववेद में इसका प्रयोग धार्मिक विधियों एवं तज्जनित गुणों के संदर्भ में है।[४] छांदोग्य उपनिषद् में आश्रमों के विलक्षण विधानों को धर्म कहा है। बौद्ध सहित्य में धर्म शब्द का व्यवहार विभिन्न अर्थों में हुआ है जिनमें एक सम्पूर्ण शिक्षा भी है। जैन परिभाषा में धर्म का प्रयोग रीति परम्परा, स्थिति, मर्यादा एवं स्वभाव के अर्थ में किया है।[५] महाभारत में धर्म का आशय अहिंसा से लिया गया है।[६]

---

१. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति पृ. २७

२. श्रमण संस्कृति सिद्धान्त और साधना, पृष्ठ १६१

३. हजारी प्रसाद द्विवेदी

४. अथर्ववेद ए, १७

५. कल्पसूत्र एवं आचाराड्ग सूत्र

६. महाभारत अनुशासन पर्व ११५/१ एवं वनपर्व ३७३/३७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथ्यतः यह निरूपणा सुसंगत है कि भारतीय मनीषा में धर्म जीवन से जुड़ा हुआ है जिसकी गणना उपादान तत्व के रूप में हुई है।

दर्शन - भारतीय तत्व चिंतन में आत्म विद्या किंवा पराविद्या के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका व्यत्पत्ति जन्य अर्थ चसुत्पन्न ज्ञान ही है। [७]

पाश्चात्य अवधारणा में दर्शन के लिए Philosophy शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द मूलतः युनानी है जो Philos और sophia इन दो शब्दों के संयोग से बना है, पहला प्रेमवाची है तथा दूसरा विद्याज्ञान से संस्पर्शित है जिसका रूपान्तरण हुआ विद्यानुराग। sophia का तात्पर्य wisdom (अर्थज्ञान) है जो भारतीय बोध में यथार्थ ज्ञान सम्यक् ज्ञान है। यह विद्यानुराग ही आर्य संस्कृति का श्रद्धा भाव है। [८] इस संदर्भ में अरस्तू का कथन महत्वपूर्ण है कि दर्शन वह विज्ञान है जो परम तत्व के यथार्थ की अन्वेषणा करता है। [९] वही ब्रेदले की दृष्टि है कि दर्शन दृश्य जगत से वास्तविक जगत में प्रवेश का प्रयास है। [१०] श्रमण संस्कृति की जैन अवधारणा में दर्शन यथार्थ ज्ञान है। सम्यक् दर्शन है। [११] वहां अतीन्द्रिय सुख की अभिरुचि और वीतराग सुख स्वभाव में रमणरत निश्चय को दर्शन कहा है। [१२] इस तरह दर्शन का आशय यथार्थ अवबोध सम्यक् दर्शन या यथार्थ ज्ञान ही है।

निष्कर्ष - संस्कृति, धर्म, दर्शन ये तीनों मानव की विकास यात्रा के प्रतीक चिह्न हैं। ये सभी परम्परा संपृक्त हैं। आचारोन्मुख संस्कृति धर्म तथा उसकी चिंतन परक प्रवृत्ति दर्शन है। संस्कृति का सम्बन्ध हमारे धार्मिक विश्वास एवं आस्था से है। सभी धर्म आम्नायों ने दर्शन एवं धर्म की एकता स्थापित की, उसी अनुरूप श्रमण विचार धारा भी इनमें अभेद स्थापित करती है। जैन विचार में दर्शन विचार है और धर्म आचार तथा बौद्ध दृष्टिकोण में हीनयान दर्शन है, महायान धर्म है। धर्म और दर्शन मानव को मिथ्यात्व से परे हटाकर यथार्थ के आलोकपथ में आने का निर्देश करते हैं।

जनोन्मुख श्रमण संस्कृति - श्रमण चिंतन के अनुसार सृष्टि शाश्वत है। सुख से दुःख की ओर तथा दुःख से सुख की ओर विश्व का क्रमशः अवसर्पण तथा उत्सर्पण होता रहता है। अवसर्पण की आदि सभ्यता सरल व अजुथी कौटुंबिक व्यवस्था न होने से कोई दायित्व नहीं था तथा दायित्व हीन जीवन व्यग्रता विरहित था। जैन पुराणों के अनुरूप जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से होती थी। पाप-पुण्य, निम्न श्रेष्ठ का संघर्ष नहीं था। यह युग भोग भूमि के नाम से अभिहित किया गया है। [१३]

---

७. देवेन्द्रमुनि शास्त्री- धर्म दर्शन मनन और मूल्यांकन- ४७

८. वही पृष्ठ-५७

९. वही पृष्ठ- ५७

१०. वही पृष्ठ-६७।

११. तत्वार्थ सूत्र अध्याय-१

१२. द्रव्य संग्रह १४/४९ तथा ४५

१३. भगवान महावीर एक अनुशीलन- भूमिका भाग पृ. १५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब इस युग के दूसरे एवं तीसरे काल खंड में कल्पवृक्षों की कमी आने लगी तो आदिकालीन मानवों में द्वन्द्व का वातावरयण सृजित हो गया। इस दुःखान्त स्थिति में मानव संघर्ष से सुरक्षा की ओर उन्मुख हुआ तो व्यक्ति आश्रित पद्धति के विलीपन की संभावनाएं बनीं और सामुदायिकता का सूत्रपात हुआ। यह सामुहिकता कुल की परम्परा में ढ़ल गई। कुलों की सृष्टि जिन्होंने की वे कुलकर कहलाये जो चौदह थे, अंतिम कुलकर नाभि थे। उन्होंने ही सर्व प्रथम दंड का विधान किया। इस युग में स्त्री पुरुष का युगल प्रजनन होता था पर नाभि और मरूदेवी से उत्पन्न युगल ऋषभ एवं सुनंदा ने परंपरा रूप परस्पर विवाह किया पर ऋषभ ने दूसरा विवाह करके इस सनातन परंपरा को विछिन्न कर दिया।

आदि राजा ऋषभदेव ने मानव सभ्यता के विकास के नवीन आयाम उद्घाटित किये। ऋषभ से ही राज्य व्यवस्था का समारंभ हुआ। नगर एवं ग्रामों की सर्जना के साथ सभ्यता नागरिक होने लगी। कल्प वृक्षों के ह्रास के कारण कृषि का विकास हुआ, पाक निर्माण एवं शिल्पकला का आविर्भाव हुआ। व्यापारिक प्रवृत्ति का विकास हुआ। ऋषभ ने ब्राह्मी और सुंदरी को क्रमशः अक्षर एवं अंक विद्या का अवदान प्रदान किया। ऋषभदेव द्वारा प्रणीत नव समाज से व्यक्तिवाद विलुप्त हो गया। इस व्यवस्था ने व्यक्ति के जीवन को तो सुरक्षित बनाया पर उसकी आकांक्षाओं को उभार दिया और वह युद्धोन्माद से ग्रस्त हो गया। नियति का उपासक मानव पुरुषार्थ का पुजारी बन गया। वह संस्कृति का संचालक बनकर व्यवस्थाओं का नियंता हो गया।

ऋषभ युगीन मानव सिंधु सभ्यता पूर्व साधना में लीन था। फिर वही सिन्धु सभ्यता (३१०० ई.पू.-२५०० ई.पू.) का जनक बन गया। तो श्रमण संस्कृति के आदि पुरुष ऋषभ ने व्यक्ति आश्रित प्रणाली का निरसन कर सभ्यता की आधार शिला रखी जो उस युग के मानव की मनोकामना थी। सिन्धु सभ्यता से प्राप्त भग्नावशेषों से ज्ञात होता है कि तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ तक सिन्धु सभ्यता का विकासकाल रहा है। संभवनाथ तक के तीनों तीर्थंकर मानव सभ्यता के विकास के प्रणेता रहे हैं।[१४]

संभवनाथ का प्रतीक चिह्न अश्व था और सिंधु प्रदेश सेन्धव अश्वों के लिये सुविख्यात रहा है। मौर्यकाल पर्यन्त सिन्ध में संभु तक नामक जनपद व सांभाव जाति रही थी जो संभवनाथ की परंपरा से बद्ध थी। सिंधु सभ्यता में जो नागफना युक्त प्रस्तर कला के अवशेष मिलते हैं, वह सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्व का प्रतीक था। इस तीर्थंकर का प्रतीक स्वस्तिक सिंधु सम्यता में शुभंकर माना गया है। इस तरह तीर्थंकरों का सभ्यता निर्माण में योगदान रहा है वैसे भी तीर्थंकर कैवल्य पाते ही तीर्थ स्थापना करते हैं जो एक विशुद्ध सामाजिक संरचना का स्वरूप है।

बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतजिन का अस्तित्व रामायण काल (५००० ई.पू.) में रहा है, ने भी समाज को सुघटित बनाने में सहयोग दिया। विदेह राजा जनक के पूर्वज २१वें तीर्थंकर नमि मिथिला के अधिपति थे जिनकी अनासक्त वृति विश्रुत एवं सुख्यात रही है। वैदिक हिंसा से आक्रांत प्राचीन भारत में जब जनमानस त्रस्त था तभी पशु वध एवं कर्मकांड के विद्रोही स्वरूप में श्रमण संस्कृति खड़ी हो गई।

---

१४. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन- भारतीय इतिहास एक दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरिष्टनेमी ने अपने विवाह प्रसंग पर पशु हिंसा की संभावना से घबराकर अपरिणीत रहना ही स्वीकार किया। अरिष्टनेमी श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। इसी युग में हिंसक यज्ञों के स्थान पर घोर आंगिरस ऋषि ने आत्म यज्ञ की श्रीकृष्ण को प्रेरणा दी। कौशांबी के मतानुसार अरिष्टनेमी और और आंगिरस एक ही व्यक्ति हैं। [१५]

ईसा की सात शताब्दी पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने हिंसा की परंपरा की चुनौती दी। इसी युग में श्रमण परंपरा के विभाजन के लिए मतभेद के बीज पड़ चुके थे। पार्श्व ने एक पंचाग्नि से आतापना ले रहे तापस से संवाद कर मिथ्या मान्यताओं के प्रति विद्रोह प्रकट किया। तथागत बुद्ध भी इस तीर्थंकर की परंपरा से जुड़े रहे। [१६] योगियों की नाथ संप्रदाय का भी पाश्र्व आदि पुरुष माना गया है। [१७] इसी काल में यूनानी दार्शनिक पाइथागौरस ने भारत आकर पार्श्व पंथ के श्रमणों से अहिंसा का पाठ पढ़ा। सामाजिक विकृतियों के विरुद्ध जनमानस को साथ लेकर श्रमण संस्कृति का विकास चक्र अविराम गतिशील रहा। पार्श्व निर्वाण के पश्चात् फिर हिंसा ने अपना सिर ऊँचा किया तो महावीर और बुद्ध ने जातिगत विषमता, यज्ञ हिंसा के विरुद्ध श्रमण परंपरा को स्थिर किया। इस काल में यज्ञों में घी होमने से अर्थ व्यवस्था चरमरा गई। बैलों को यज्ञों में होमने से कृषि पर विपरीत प्रभाव पढ़ा ऐसी स्थिति में आक्रान्त जनमानस ने महावीर एवं बुद्ध के नेतृत्व में अपने मौलिक अधिकारों के लिये संघर्ष किया। दयनीय मातृ जाति एवं पीड़ित शुद्रों की स्थिति को सुधारने में और उन्हें समान सामाजिक अधिकार देने का संदेश श्रमण संस्कृति ने दिया। साथ ही एक अभिनव अहिंसा मूलक आस्था भी उन्होंने प्रजा को प्रदान की। समाज के निम्न वर्ग के साथ-साथ आभिजात्य वर्ग भी श्रमण संस्कृति से जुड़ गया क्योंकि वह ईश्वर, कर्तृत्व जातिवाद से ऊब गया था। महावीर का अनेकांत एवं बुद्ध का अनात्मवादी सिद्धान्त जन-जन वरेण्य तार्किक एवं सुसंगत होने से उन्हें अपनी और आकृष्ट कर रहा था। श्रमण संस्कृति जन मन में उठी पीड़ा की परितोषक बन गई। जनवादी स्वरुपा श्रमण संस्कृति का नेतृत्व यद्यपि क्षत्रियों के हाथ में था पर ब्राह्मणों के अत्याचारों के विरुद्ध वैश्य और शुद्रों ने भी उनको अपना सहयोग दिया जन-जन की धार्मिक आस्था जैन धर्म एवं बौद्ध के प्रति बढ़ती गई। बौद्ध धर्म आर्य देश से बाहर भी फैल गया, जैन धर्म जन धर्म के रूप में विकसित हो रहा था।

बंगाल की मानभुम एवं सिंह भुम अनपद की प्रजा आज भी सराक (श्रावक) है। [१८] यह अहिंसक जाति 'काटने' शब्द का प्रयोग भी जीवन व्यवहार में नहीं करती। इनके पूर्वज गाजीपुरा के आसपास सरयु तट वासी थे। हजारीबाग जिले में पार्श्वनाथ हिल सम्मेद शिखर की आज भी आदिम जातियाँ पहाड़ों को देवता कहकर पुकारती है। [१९] मध्यकाल के राजपूत एवं मुगल शासकों पर भी जैन धर्म का पर्याप्त प्रभाव था। अकबर की सभा में हीरचंद विजयश्री महत्वपूर्ण जैन संत थे। [२०]

१५. भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ. ५७।

१६. Mrarhya Davida Goutam the man P.P २२-२५।

१७. नाथ संप्रदाय- हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ. १९०।

१८. भारतीय चिंतन- पृ. ९२।

१९. मुडांज एण्ड देअर कंट्री पृ. ५२।

२०. भारतीय तत्व चिंतन पृ. १७६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाज सुधार का यह संघर्ष अविराम प्रवर्तमान रहा। अंग्रेजों के खिलाफ स्वतंत्रता आंदोलन में भी जैनाचार्य जवाहरलाल जी महाराज तथा विजय वल्लभ सूरि ने स्वतंत्रता हेतु जन जागरण का संदेश दिया। गाँधीजी ने अपनी आत्मकथा में जैन तपस्वी श्रीमद् राजचंद्र का स्मरण सआस्था किया। इस तरह श्रमण संस्कृति सामाजिक विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष करती हुई मानव को मानव के रूप में प्रतिष्ठित करने की परंपरा का नाम रही है। उसका परम उद्देश्य जनमंगल द्वारा विश्वमंगल ही है।

श्रमण संस्कृति का स्वरूप - भारतीय संस्कृति भारत की समग्र सांस्कृतिक एकता की सामूहिक बोध संज्ञा है। भारतीय संस्कृति के प्रधानतया दो पथ हैं - ब्राह्मण एवं श्रमण। जो समय प्रवाह के साथ विकसित होकर ब्राह्मण संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति के नाम से सुविख्यात हुए। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के ध्वंसावशेषों ने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जगत में कई महत्वपूर्ण नवीन तथ्य प्रदान किये। इन ध्वंसावशेषों की खोज के पूर्व यह धारणा प्रचलित थी कि धर्म एवं संस्कृति का सम्बन्ध आर्यों से ही है और उनके आद्य प्रणेता आर्य ही थे। इन ध्वंसावशेषों से प्राप्त प्रस्तर मूर्तियों एवं सांस्कृतिक अभिलेखों ने यह नवीन दिशा दी कि आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारतीय धरा पर दर्शन, धर्म एवं संस्कृति का न केवल जन्म अपितु विकास भी हो चुका था। आर्य-काल के पूर्व का मानव न केवल सांस्कृतिक कलाओं में प्रवीण था अपितु आत्मविद्या का भी ज्ञाता था। जो ध्वंसावशेष मिले हैं उनका श्रमण संस्कृति से भी सम्बन्ध है, ऐसा अभिमत डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का है। ऐसी ही धारणा डॉ. हेरास तथा प्रो. श्रीकंठ शास्त्री ने प्रदान की है। [२१] ऋग्वेद के अनुसार भी पहले दो संस्कृतियाँ थीं जो ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृतियों के नाम से प्रसिद्ध हुई। उनका ऋग्वेद में क्रमशः बार्हत और आर्हत के नाम से उल्लेख हुआ है। बार्हत वेदों को मानते थे। यज्ञ यागादि के प्रति उनकी आस्था थी जबकि आर्हत यज्ञादि को नहीं मानते थे। उनकी आस्था का केन्द्र अहिंसा जीव-दया था। वे अर्हत के उपासक थे। विष्णु पुराण ने आर्हतों को कर्म काण्ड विरोधी तथा अहिंसा का प्रतिष्ठापक स्वीकार किया। [२२] आर्हत संबंधी ऐसा ही उल्लेख पद्म पुराण में भी उपलब्ध हुआ है। [२३] आर्हत संस्कृति श्रमण संस्कृति का प्राचीन नाम ही था। श्रमण संस्कृति की वैदिक काल से आरण्यक काल पर्यन्त वातरशना मुनि किंवा व्रात्य संस्कृति के नाम से भी संबोधित किया है। व्रात्य से तात्पर्य व्रतों के पालक से लिया जाता है। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी ब्राह्मण विशेष पुण्यशील विद्वान विश्व सम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाता था।[२४]

ऋग्वेद में वातरशना मुनि शब्द अर्हत का समानार्थी है। सामणाचार्य ने जिनकी अतीन्द्रियार्थ दर्शी कहा है।[२५] व्रात्यों को कैशी और मुनि के नाम से भी पुकारा है। [२६] इन मुनियों के नेता नाभिपुत्र ऋषभदेव थे। [२७] इस तरह श्रमण संस्कृति की पहचान अलग-अलग समय में भिन्न-भिन्न नामों से हुई है।

---

२१. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन- भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृष्ठ २८

२२. अर्हितं सर्वमेतत्य मुक्ति द्वारम संवृत्तम् धर्मांद विमुक्तरहोड्यं नैतमाद परः परः॥ विष्णु पुराण ३, १८, १२।

२३. पद्म पुराण १३/३५०

२४. अथर्ववेद : सामणाचार्य १५/१/१/१

२५. सामयण भाष्य-१० १३६, २

२६. अग्वेद १०-१२-३६-२

२७. श्रीमद् भागवत ५-६-२०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन साहित्य में तीर्थंकरों के लिये अर्हत शब्द का प्रयोग किया है। [२८] जिसका प्रचलन पाश्र्वनाथ पर्यन्त रहा। महावीर और बुद्ध काल में अर्हत शब्द का स्थान निगंठवा निर्ग्रंथ शब्द ने लिया। [२९] इस शब्द का प्रयोग वैदिक ग्रन्थों में भी हुआ है। पं. बंगाल में सातवीं शताब्दि तक निर्ग्रंथ नामक एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय चल रहा था। श्रमण संस्कृति की अंग रूप एक धारा जो व्रात्य कैशी मुनि निर्ग्रंथ के नाम से पुकारी गयी, वही कालान्तर में जैन धर्म के नाम से अभिहित हुई। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्र कृताङ्ग आदि प्रतिनिधि जैन आगमों में जिन शासन, जिन मार्ग, जिन प्रवचन शब्द तो सुविख्यात रहे पर जैन धर्म शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग विशेषावश्यक भाष्य में हुआ। [३०] जिसका सृष्टि काल विक्रम संवत् ८४५ है। [३१] इस तरह फिर वैदिक ग्रंथ मत्स्य पुराण में भी जिन धर्म तथा देवी भागवत [३२] में जैन धर्म शब्द प्रयोज्यमान हुआ। श्रमण शब्द भी जैन आगमों में उपलब्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं। इन धर्मों के धारक श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका कहे जाते हैं। [३३] इस तरह जैन धारा का सम्बन्ध श्रमण संस्कृति के आद्य स्रोत के साथ रहा है। अलग-अलग देश काल में श्रमण संस्कृति की पहचान भले ही अलग-अलग नामों से हुई, पर उसका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति से विभक्त नहीं हुआ। इसी तरह बौद्ध परम्परा, जिसका प्रवर्तन भगवान बुद्ध द्वारा हुआ, वह भी श्रमण संस्कृति की अविभाज्य अंग रही है। बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये 'श्रमण' शब्द का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। [३४]

निष्कर्षतः यही निरूपणा समीचीन होगी कि भारतीय सांस्कृतिक स्रोत से दो धाराओं का उद्भव हुआ जो जैन एवं बौद्ध कहलायीं, और इन दोनों की सामूहिक अभिव्यक्ति श्रमण संस्कृति के नाम से हुई। इस श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत वैचारिक वैमनस्य के कारण आजीवक अक्रियावादी आदि कई मतों की उत्पत्ति हुई। कुछ सामायिक प्रभावों को छोड़कर वे सब काल के गाल में समा गए। मुख्य रूप से जैन एवं बौद्ध परम्परा ही अस्तित्व में रही। कालान्तर में बौद्ध संस्कृति भी भारत में कुछ परिस्थितियों से आक्रान्त होकर नष्ट प्रायः हो गयी। जैन धारा श्रमण संस्कृति की उपस्थिति का बराबर आभास देती रही है। जहाँ ब्राह्मण संस्कृति व्यवहार व कर्मकाण्ड प्रधान रही है वहीं श्रमण संस्कृति विशुद्ध आध्यात्मिक रही है। ब्राह्मण संस्कृति व्यक्ति को बाह्य जीवन की सुंदरता के साँचे में ढाल रही थी, तो श्रमण संस्कृति उसके अन्तस् को निखारने में लगी थी जिस पर उसका समग्र व्यक्तित्व टिका हुआ है। श्रमण संस्कृति आंतरिकता को महत्व देती रही। उसका उद्देश्य व्यक्ति की समस्याओं का समाधान ही था वह समाधान जो उसको अपने भीतर एक पूर्णता की अनुभूति प्रदान करे।

* * * * *

---

२८. कल्पसूत्र- श्री तारफ गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर पृष्ठ १६१-१६२।

२९. आचारांग १-३-९-१७८, भगवती सूत्र, १-६-३६-८६ तथा दिघनिकाय सामज्जन- फल सूत्र १८, २१ विनय-पिट्टक महावग्य पृ. २४२।

३०. जैण तिथ्य... वि भाष्य गाथा १०४३

तिथ्य जहणं... वही गाथा १०४५-१०४६

३१. मत्स्य पुराण ४/१३/४५

३२. गेत्वाथ माहमायास रजि पुद्वान वृहस्पति जैन धर्म कृत एवं यज्ञ निंदा पर तथा देवी भागवत ४, १३, ५८।

३३. भगवती सूत्र २-८६-८२, स्थानांग सूत्र ४/३, जम्बृद्वीप प्रज्ञप्ति, उसह चरियं।

३४. धम्मपद-ब्राह्मण वर्ग- ३६, एवं सुस्त निपात्त वासट्ठ सूत्र- ३५, २४५ अध्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org